पुस्तक परिचय

नक़्शे से बाहरः दिल्ली में बेदख़ली और पुनर्वास के बाद ज़िन्दगी

प्रकाशक **अर्पिता दास, योडा प्रेस**

लेखक **कल्याणी मेनन-सेन, गौतम भान**

सहयोग **जागोरी**

मूल्य **250/- रुपए**

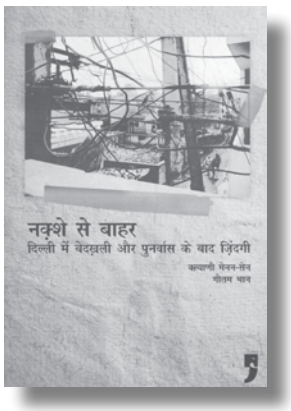

"जनवरी 2004 में केंद्रीय पर्यटन मंत्रालय ने ऐलान किया कि यमुना के किनारे 100 एकड़ की पट्टी को तट विहार के रूप में विकसित किया जाएगा। सरकार का कहना था कि राष्ट्रमंडल खेलों के दौरान सैलानियों को ये जगह बहुत भायेगी। फरवरी और अप्रैल 2004 में इस इलाके के घरों और सामुदायिक इमारतों को ढहा दिया गया जिससे हज़ारों लोग पलक झपते बेघर हो गए। दो साल के शोध अध्ययन पर आधारित यह पुस्तक उजाड़े गए परिवारों में से लगभग 3000 परिवारों की ज़िंदगी का जायज़ा लेती है जिन्हें शहर के हाशिए पर बवाना में पुनर्वास दिया गया था। इस पुस्तक में उनकी पहचान, घरों, अधिकारों और जीवन पर हो रहे हमलों को देखते हुए सम्मानजनक जीवन जीने की उनकी चाह और संघर्ष का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में बहुत सारे सामाजिक और आर्थिक संकेतकों के प्रसंग में इकट्ठा किए गए आंकड़ों और साक्ष्यों के ज़रिए यह दर्शाया गया है कि बेदखली और पुनर्वास ने पुनर्वासित परिवारों के अधिकारों व आजीविका को कितना कमज़ोर कर दिया है और उन्हें एक ऐसी स्थायी ग़रीबी की अवस्था में धकेल दिया है जहां से निकल पाना असंभव भले न हो मगर बहुत दूर की बात ज़रूर लगती है।

भौतिक परिवेश

जो लोग बस्तियों में नहीं रहते, ऐसे ज़्यादातर लोगों के लिए बस्ती का मतलब अनौपचारिक आबादी और पुनर्वास बस्ती, दोनों से होता है। यह शब्द सुनते ही लोगों के ज़ेहन में संकरी, कीचड़ भरी गलियों में बनी टाट की टूटी-फूटी झुग्गियों, बंद पड़ी नालियों, कूड़े के ढेर, चूल्हे के धुएं से बोझिल हवा, जहां-तहां चल रहे कारखानों से निकलती रासायनिक भाप और गंदे सामुदायिक शौचालयों से उठती सड़ांध की मिली-जुली छवि दिमाग में कौंध जाती है। 'इज़्ज़तदार' कॉलोनियों के आस-पास से बस्तियों को हटाने की मांग करने वाली रेज़ीडेंट्स वेलफ़ेयर एसोसिएशनों द्वारा अदालतों में दायर की गयी याचिकाओं में बार-बार यही तस्वीर उकेरी गयी है। ऐसी याचिकाओं में प्रायः यह दलील दी जाती है कि इन बस्तियों की वजह से लोगों का स्वास्थ्य और पर्यावरण ख़तरे में पड़ रहा है, प्रॉपर्टी की कीमतें गिरती जा रही हैं। बस्तीवासियों को पुनर्वास के लिए राज़ी करने की प्रक्रिया में उन्हें एक साफ़-सुथरी और स्वस्थ, बेहतर ज़िंदगी का सपना दिखाया गया था। मगर बवाना से एक बार गुज़रने पर ही समझ में आ जाता है कि लोगों को जो सपने दिखाए जा रहे थे वे बस सपने ही थे।

हमने आंकड़ों के आधार पर यह दर्शाने का प्रयास किया है कि बवाना में योजना के अनुसार बनाई गई पुनर्वास बस्ती का भौतिक वातावरण बिना किसी योजना के बसाए गए पुश्ता से भी ज़्यादा ख़राब है। हमने यह भी दिखाया कि बवाना में गंदगी की असली वजह लोगों की गलत आदतें नहीं हैं बल्कि यह समस्या पानी

और सफ़ाई जैसी मूलभूत सेवाओं की पर्याप्त व्यवस्था न होने से पैदा हुई है। महिलाओं के साथ हमारी बातचीत से पता चलता है कि ऐसे हालात में पर्याप्त स्वच्छता बनाए रखना नामुमकिन है।

बरसात में पूरी बस्ती एक विशाल दलदल का रूप ले लेती है। गलियां और खुले स्थान गंदे में डूब जाते हैं। सामुदायिक नलों पर कपड़े और बर्तन धोना मुहाल हो जाता है। सफ़ाई का स्तर बहुत नीचे पहुंच जाता है। जो लोग अभी भी कच्ची झुग्गियों में रह रहे हैं या आग लगने के बाद अपने मकानों की मरम्मत नहीं करवा पाए हैं वे ईंटों और पत्थर के टुकड़ों की चौकी बनाकर अपनी सारी चीज़ें उसके ऊपर रख देते हैं। बच्चे इस ढेर के सबसे ऊपर होते हैं।

फ़ोटो: सरिता बलोनी

हिंसा दहनः बवाना के महिला समूह द्वारा हिंसा के विरुद्ध एक प्रतीकात्मक कार्रवाई

ऐसे माहौल में ज़िंदगी की लागत बहुत ऊंची है और इस लागत का सबसे बड़ा हिस्सा औरतों व लड़कियों के कंधे पर आ जाता है। न केवल मूलभूत ज़रूरतों की लागत बढ़ गई है बल्कि महिलाओं व लड़कियों के परिश्रम में तीन-चार घंटे और बढ़ गए हैं। अब उन्हें पानी लाने, खाना पकाने, कपड़े धोने और साफ़-सफ़ाई में पहले से ज़्यादा समय लगाना पड़ता है। बवाना आने के बाद स्कूल छोड़ चुकी ज़्यादातर लड़कियों का कहना है कि अब वे स्कूल नहीं जा सकतीं क्योंकि घर का काम निपटाने में अब उनका पहले से ज़्यादा समय लगता है। ये लड़कियों पुश्ता में भी घरेलू कामों में अपनी मां का हाथ बंटाया करती थी मगर फिर भी स्कूल चली जाती थीं परंतु यहां के बाद ऐसा करना संभव नहीं रहा।

पुस्तक में प्रस्तुत किए गए आंकड़ों से बवाना में स्वास्थ्य की लागतों की भी कलई खुल गई है। इन लागतों में इज़ाफ़े की भी सबसे बुरी मार महिलाओं व लड़कियों पर पड़ रही है। हमने पाया कि लगभग 65 प्रतिशत महिलाएं और 72 प्रतिशत बच्चे सर्वेक्षण से पहले के 6 महीनों में बीमार पड़ चुके थे। बच्चों में दस्त और आंत्रशोध (56 प्रतिशत) जैसी पानी से फैलने वाली बीमारियां सबसे आम हैं। ज़ाहिर ये बीमारियां पीने के गंदे पानी और सफ़ाई की कमी के कारण फैल रही हैं। महिलाओं में स्त्री-रोग संक्रमण सबसे आम हैं। गंदगी, प्राइवेसी की कमी और सीमित जलापूर्ति को देखते हुए यह आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि इन बीमारियों से बचने के लिए शारीरिक स्वच्छता बहुत ज़रूरी होती है।

बवाना में हमने निचले स्तर के जिन अधिकारियों से बात की उनमें से ज़्यादातर का कहना था कि बस्ती के भौतिक वातावरण की चिंता हमारे जैसे लोगों को ही ज़्यादा है जबकि खुद बस्ती में रहने वालों को इसकी कोई परवाह नहीं है। उन्होंने गलियों में फैले कचरे और बंद पड़ी नालियों का हवाला देते हुए कहा कि इस बारे में ग़रीबों के रवैये को सुधारा ही नहीं जा सकता। साथ ही उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि यूं भी इन लोगों को इससे बेहतर ज़िंदगी की आदत नहीं है।

माहौल ख़राब हैः तूफान में घिरी औरतें

प्रचलित छवि के अनुसार, बस्तियों में सिर्फ़ गंदगी ही नहीं होती बल्कि हिंसा भी बहुत होती है। बस्तियों के भौतिक वातावरण की तरह यह छवि भी एक हद तक सच्चाई पर आधारित है। फिर भी, यदि यह मान लिया जाए कि हिंसा किसी भी बस्ती की ज़िंदगी का सामान्य हिस्सा होती है तो भी हमारे आंकड़ों व साक्षात्कारों से पता चलता है कि पुनर्वास के बाद आम लोगों, ख़ास तौर से महिलाओं व लड़कियों के लिए बहुत सारे नए संकट पैदा हो गए हैं। महिलाएं बार-बार इस बात का ज़िक्र करती हैं कि 'यहां का माहौल ख़राब है'।

वंचना और दयनीय जीवन परिस्थितियों ने बवाना की महिलाओं को समुदाय में सेवाएं प्रदान करने वाले लोगों की दया पर छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए, महिलाएं सार्वजनिक शौचालय तक में नहीं जाना चाहतीं। उनकी परेशानी सिर्फ़ ख़र्चे को लेकर नहीं है बल्कि वे इन शौचालयों में तैनात टॉयलेट अटेंडेंट्स के दुर्व्यवहार से भी तंग रहती हैं। इन अटेंडेंट्स ने शौचालयों की कुंडियां तोड़ दी हैं और जिस समय महिलाएं नहा रही होती हैं उसी समय वे दरवाज़ा खोल कर अंदर झांकने लगते हैं। उनकी दलील सदा यही होती है कि वे देखने आए थे कि महिलाएं कपड़े तो नहीं धो रही हैं। इन अटेंडेंट्स द्वारा लड़कियों के यौन उत्पीड़न की भी कई ख़बरें मिल चुकी हैं। जो महिलाएं पैसे बचाने और इस उत्पीड़न से बचने के लिए आस-पास के खेतों में शौच के लिए जाती हैं उन्हें किसानों और उनके चौकीदारों की गाली-गलौज व हमलों का सामना करना पड़ता है। यदा-कदा हमें रात में टट्टी-पेशाब के लिए खेतों में गई कुछ लड़कियों के बलात्कार और यौन-उत्पीड़न की दबी-दबी चर्चाएं भी सुनाई पड़ीं मगर स्वाभाविक है कि किसी पीड़ित लड़की का नाम कोई नहीं बताना चाहता। ज़्यादातर सेवा प्रदाताओं की तरह अधिकांश टॉयलेट अटेंडेंट्स भी मझौली जातियों के हैं। वे अपने जातीय पूर्वाग्रहों को छिपाने की कोई कोशिश नहीं करते।

निष्कर्ष

हमारे अध्ययन से इस सरकारी दावे की कलई खुल गई है कि पुनर्वास बस्तियां बेतरतीब अनौपचारिक बस्तियों के मुकाबले ज़्यादा स्वच्छ, ज़्यादा सेहतमंद और सुरक्षित हैं। यदि केवल भौतिक परिवेश की जांच की जाए तो भी साफ़ हो जाता है कि मूलभूत बुनियादी ढांचा भी मात्रा और गुणवत्ता, दोनों लिहाज़ से न्यूनतम मानकों के मुकाबले बहुत छोटा है। आवश्यकता से बहुत कम मात्रा में मिल रही इन सेवाओं तक पहुंच भी जेंडर और जातिगत पूर्वाग्रहों के कारण बेहद असंतुलित हो चुकी है जिससे महिलाओं, अल्पसंख्यकों और उत्पीड़ित जातियों पर बहुत गहरा असर पड़ रहा है।

पतनशील भौतिक वातावरण के अलावा भारी हिंसा और व्यक्तिगत असुरक्षा भी एक चिंताजनक समस्या है। महिलाओं व लड़कियों के लिए यह हिंसा और असुरक्षा और भी गंभीर रूप ले चुकी है। घर के भीतर और बाहर, लगभग हर सामाजिक मेलजोल या संपर्क हिंसा अथवा उसकी आशंका में रंगा होता है। इससे लड़कियों के सामने मौजूद सीमित संभावनाएं और भी कुंद हो जाती हैं। जातिगत भेदभाव और हिंसा को बवाना में बच्चों के स्कूल छोड़ने का एक अहम कारण पाया गया। इस तरह के हालात से अगली पीढ़ी की क्षमताओं पर जो दीर्घकालिक असर पड़ने वाले हैं वे नीति निर्माताओं की नज़र से निश्चय ही ओझल नहीं होंगे।

आम जनता की चेतना में पुनर्वास बस्तियों और अनौपचारिक बस्तियों के भीतर सुरक्षा का मुद्दा केवल 'वैध नागरिकों' के लिए पैदा होने वाले ख़तरों के संदर्भ में ही सामने आता है। नीतिगत मंचों और संयुक्त राष्ट्र आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आधिकार आयोग को भेजी गई रिपोर्ट्स जैसे सार्वजनिक दस्तावेज़ों में मानवाधिकारों के प्रति बार-बार चिंता व्यक्त करने के बावजूद ऐसा लगता है कि मेहनतकश ग़रीबों के परिवेश में स्वास्थ्य और सुरक्षा संबंधी जोखिमों से पैदा होने वाले नाजुक हालात सरकार की प्राथमिकता में नहीं हैं।

दिल्ली को एक 'विश्व स्तरीय महानगर' बनाने के लिए की जा रही उठापटक के मानवीय निहितार्थों का आलोचनात्मक भंडाफोड़ करते हुए "नक़्शे से बाहर" ने शहरी विकास के मौजूदा रुझानों पर कुछ बेचैन करने वाल सवाल खड़े किए हैं और इस बात के लिए बहुत विश्वसनीय ढंग से दबाव पैदा किया है कि शहर के भविष्य को तय करने वाली बहसों में सिर्फ़ संपन्न (या संपन्नता के ख़्वाहिशमंद) नागरिकों की ही नहीं बल्कि शहर के सभी नागरिकों की आवाज़ और नज़र को पूरी मान्यता दी जानी चाहिए।"

पुस्तक के कुछ अंश